



अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।  
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि आपको कर्मकी  
अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे  
भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।  
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

आप मिले हुए—से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।  
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा<sup>१</sup> मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे<sup>२</sup> और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे<sup>३</sup> होती है ॥ ३ ॥

१. साधनकी परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठाका नाम 'निष्ठा' है।

२. मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दधन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेका नाम 'ज्ञानयोग' है, इसीको 'संन्यास', 'सांख्ययोग' आदि नामोंसे कहा गया है।

३. फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है, इसीको 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मत्कर्म' आदि नामोंसे कहा गया है।

न कर्मणामनारम्भात्रैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्रुते ।  
न च सत्र्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको\* यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।  
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।  
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

\* जिस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते, उस अवस्थाका नाम 'निष्कर्मता' है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।  
कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।  
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।  
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।  
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस

यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो ॥ १० ॥  
**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।  
 परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥**

तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे ॥ ११ ॥  
**इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।  
 तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥**

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है ॥ १२ ॥

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।  
 भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥**

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।  
 यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥  
 कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।  
 तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १४-१५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।  
 अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।  
 आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला

और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।  
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥**

उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १८ ॥

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।  
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥**

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।  
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥**

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।  
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है\* ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।  
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।  
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।  
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

\* यहाँ क्रियामें एकवचन है, परंतु 'लोक' शब्द समुदायवाचक होनेसे भाषामें बहुवचनकी क्रिया लिखी गयी है।



इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ॥ २४ ॥

**सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।  
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥**

हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ॥ २५ ॥

**न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।  
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥**

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे ॥ २६ ॥

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।  
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥**

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण

अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है ॥ २७ ॥

**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।  
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥**

परन्तु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभाग<sup>१</sup> के तत्त्व<sup>२</sup> को जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

**प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।  
तानकृत्स्त्रविदो मन्दान्कृत्स्त्रविन्न विचालयेत् ॥**

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे ॥ २९ ॥

**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।  
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥**

१. त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है।

२. उपर्युक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।  
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥**

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

**ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।  
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥**

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥

**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।  
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥**

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।  
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥**

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।  
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥**

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ॥ ३५ ॥

*अर्जुन उवाच*

**अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।  
अनिच्छन्नपि वाष्प्येय बलादिव नियोजितः ॥**

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है? ॥ ३६ ॥

*श्रीभगवानुवाच*

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।  
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥**

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ॥ ३७ ॥

**धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।  
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥**

जिस प्रकार धूँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है ॥ ३८ ॥

**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।  
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥**

और हे अर्जुन! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।  
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥**

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।  
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

इसलिये हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।  
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।  
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो  
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥